॥ ॐ नमः शिवाय ॥

महामहोपाध्याय श्रीमदाचार्य-
श्री पं० रामेश्वर झा प्रणीता

गुरु वन्दना,



लक्ष्मी वन्दना,



शिव-शिवास्तुतिः



शिव तत्व विमर्शः



—: संग्रहकर्ता :—

विनोदशङ्कर वाजपेयी

वि० संवत् २०३८
विजयादशमी

प्रथमावृत्तिः १९८१ मूल्य रू० ५/००

॥ ॐ नमः शिवाय ॥

महामहोपाध्याय श्रीमदाचार्य·
श्री पं० रामेश्वर झा प्रणीता

गुरु वन्दना,



लक्ष्मी वन्दना,



शिव-शिवास्तुतिः



शिव तत्त्व विमर्शः



—: संग्रहकर्ता :—

विनोदशङ्कर वाजपेयी

वि० संवत् २०३८
विजयादशमी

प्रथमावृत्तिः १९८१

मूल्य रू० ५/००

प्रकाशक :
जयन्ती प्रेस एण्ड प्रकाशन
२/२६२ एच
भदैनी, वाराणसी

मुद्रक:
जयन्ती प्रेस एण्ड प्रकाशन
२/२६२ एच, भदैनी
वाराणसी।

प्राक्कथन

नमः शिवाय सततं पञ्चकृत्यविधायिने ।
चिदानन्दघनस्वात्मपरमार्थाविभासिने ॥

प्रातःस्मरणीय, पूज्यपाद महामहोपाध्याय पं० रामेश्वर झा द्वारा विरचित कतिपय श्लोकों का संकलन इस लघु पुस्तिका के रूप में प्रकाशित किया गया है। आपने हजारों श्लोकों की रचना की है परन्तु वे कहीं पर क्रमिक रूप से लिपिबद्ध नहीं हैं वरन आपकी डायरियों में लिखे हुए हैं। आप प्रायः काशी अथवा अपने मूलस्थान पटसा (समस्तीपुर, बिहार) अथवा काश्मीर में रहते रहे हैं और इन्हीं स्थानों पर इन अनेकानेक श्लोकों की रचना हुई है। लौकिक सेवाओं के अनेकों रूप हैं जैसे प्यासे को जल देना, भूखे को अन्न देना, रोगी का रोग दूर करना आदि-आदि परन्तु इन श्लोकों के माध्यम से ऐसी अनुपम और अनुत्तर सेवा की गई है जिससे अलौकिक आनन्द की प्राप्ति और आत्यन्तिक दुःख की निवृति होती है।

अद्भुतानन्द संदोह भानदान महोत्सवः ।
नित्यं विराजते यत्र तत्र दुःखं कथं भवेत् ॥

चिरकाल से जीव को अपने वास्तविक स्वरूप की विभ्रान्ति हो गई है और वह अपने पांचभौतिक पिंड को ही अपना यथार्थ स्वरूप समझ बैठा है। मैं कौन हूँ; मेरा यथार्थ स्वरूप क्या है, इसकी प्रत्यभिज्ञा होना ही तो मानव जीवन का परम लक्ष्य है। पूर्ण अहम् पूर्णतः अपरिच्छन्न है; प्राकृतिक देह से रहित है; देश और काल की सीमा से परे है; नित्य, निर्मल, निरंजन एवं निष्कल है; जन्म-मृत्यु, सुख-दुःख वासना-कामना से रहित है। वस्तुतः वह पूर्णरूपेण अखण्डित है। इसके विपरीत जिस परिमित 'मैं' को जीव ने "मैं" समझ लिया है वह तो देश, काल से परिच्छिन्न होने के कारण जन्म-मृत्यु, सुख-दुःख, वासना-कामना के वशीभूत है। जब तक अहंकार आदि मनोमय कोष में विद्यमान हैं तबतक अपनें यथार्थ स्वरूप को समझने में बाधा पड़ती है। परन्तु वासना, अहंकार आदि के विलयन होने के साथ ही साथ एक ऐसी स्थिति आती है जिसमें कुछ नहीं रह जाता-न स्रष्टा है न सृष्टि है; न जीव है न जगत है; न माया है और न मायापति; केवल एक चेतना मात्र रह जाती है जो एक ऐसी चेतना है जिसे बुद्धि से नहीं पकड़ सकते। वह "शुद्ध अहम्" है

जो मनोमय कोष में आबद्ध एवं परिच्छिन्न विकृत अहम् से सर्वथा भिन्न है। अहंकार के परिणाम स्वरूप अविवेक और अज्ञान के कारण देह से तादात्म्य हो जाने के फल स्वरूप मनुष्य में कर्त्तृत्वाभिमान आ जाता है। वह इन्द्रियों द्वारा कर्त्तव्य करता रहता है और उसके परिपाक में सुख-दुःख भोग के चक्कर में फँस जाता है यही जीव का विकारमय संसार है जिसमें वह भ्रमण करता रहता है। वस्तुतः इस संसार चक्र में फँसने का मूल कारण मनोमय राज्य का विकृत अहम् ही है।

जब तक जीवावस्था है तब तक जीव द्वन्दात्मक जगत में है। उस अवस्था में भले ही क्षणिक लौकिक आनन्द की प्राप्ति होती रहे परन्तु पूर्णाहम् भावाबस्था में प्रविष्ट होने पर द्वान्दात्मक जगत से निवृति और परमानन्द की प्राप्ति होती है। उस समय जीव अथवा जगत किसी की अनुभूति नहीं होती; केवल अपने अखंड, अपरिच्छन्न आनन्द से ओत-प्रोत स्वरूप की अनुभूति होती है। उस अवस्था में तो सभी मधुमय है। और तब अधोलिखित ऋचा का स्मरण जाग्रत होता है—

मधुवाताऋतायते; मधुक्षरन्ति सिन्धवः मधु मधु मधु।

सब कुछ तो आनन्द सागर के अन्तर्गत ही है। जीव में निरन्तर श्वास, प्रश्वास की धौंकिनी चलती रहती है; इड़ा-पिंगला का खेल होता रहता है परन्तु मध्यम मार्ग में प्रविष्ट होते ही जीव कालातीत हो जाता है और तब उसे अपने यथार्थ स्वरूप का प्रत्यभिज्ञान हो जाता है।

माया के परिणाम स्वरूप पंच कंचुकों से संकुचित होने पर ही शिव जीव हो जाता है। कला कंचुक के कारण उसका सर्व कर्तृत्व किंचितकर्तृत्व में परिणित हो जाता है; विद्या कंचुक के कारण उसका सर्वज्ञत्व संकुचित होकर किंचित ज्ञान में बदल जाता है; राग कचुंक के कारण उसकी पूर्ण तृप्ति संकुचित हो कर भोगों में आसक्ति हो जाती है; काल कचुंक के कारण शिव की नित्यता संकुचित हो कर वर्तमान, भूत और भविष्य का रुप धारण कर लेती है और नियति कचुंक के कारण उसका स्वातंत्र्य और व्यापकत्व संकुचित देश आदि में परिच्छिन्न हो जाता है। अतः अपने शुद्ध अहम् के प्रति जागरूक रहने के लिए इन कचुंकों से सावधान रहना परमावश्यक है।

इसी प्रकार मल-त्रय—आणव, मायीय और कार्म मल भी स्वरूप ज्ञान में बाधक है। आणवमल के कारण जीव को अपूर्णता का बोध होता है जिससे वह अपने को सार्वभौम चेतना से पृथक अणु समझता है। यह मल बड़ी कठिनाई से दूर होता है। माया के द्वारा उत्पन्न होने वाले मायीय मल हैं। संकुचन के कारण

नाना प्रकार के स्थूल सूक्ष्म देहों की रचना हो जाती है जिससे भेद की प्रतीति होती है, वासना अथवा कामना के कारण उत्पन्न मल या विकार ही कार्ममल है।

पूर्ण तत्व ज्ञानी की दृष्टि तो कुछ इस प्रकार की हो जाती है—

न यते पूर्णभूयाय देहेऽपूर्णे विनाशिनी।
न देहः पूर्णतामेति नापूर्णोऽहं भवामि तु॥
पूर्णोनित्यः सदा स्वच्छो व्यापकोऽहं शिवात्मकः।
इति निश्चयवानस्मि निश्चिन्तोऽहं गतैषणः॥

और भी—

अशरीरी भवन्भामि सर्वशक्ति समन्वितः।
सर्वात्मा सर्व रूपश्च जन्म मृत्यु विवर्जितः॥
पूर्णः शिवात्मा गत मोह शोकः क्रीडन जगत्यां शिव एव साक्षात्।
यद् यद् भाति मयि प्रकाश वपुषि स्वच्छे स्वतन्त्रेऽद्वये।
तत्तद् रूपतया विभामि सततं देहात्मना संस्थितः॥
हित्वा काल कृता कृतेश्च कलनां तिष्ठन् स्वरूपे निजे।
सर्वाधारतयाथ सर्व रहितो भासेऽहमेवाद्वयः॥

चौरासी लाख योनियों में मानवदेह प्राप्त करना बड़ा दुर्लभ है; साथ ही साथ यह भी परम सत्य है कि इसी देह से ही पूर्णानन्द की प्राप्ति भी सम्भव है। तुलसीदास जी ने कहा है :—

बड़ेभाग मानुष तन पावा। सुर दुर्लभ सब ग्रन्थनि गावा॥
नर तन सम नहि कवनऊ देही। जीव चरावर जाचत तेही॥

परन्तु नर देह प्राप्त होने पर भी उसके हृदय में अपने यथार्थ स्वरूप जानने का प्रश्न ही नहीं उठता। इसका मुख्य कारण देहादि का अभिमान मात्र ही है। अनन्त काल से भोग मार्ग पर चलते रहने के कारण वह भोगों को ही यथार्थ सत्ता समझ बैठा है; यथार्थ चेतना क्या है, इस ओर उसका ध्यान ही नहीं जाता। जगद्गुरु की कृपा, अपने पुण्य और पुरुषार्थ के कारण जब उसके अन्तःकरण में भोगों के प्रति उदासीनता जाग्रत होती है और वह प्रवृति मार्ग से हट कर निवृति मार्ग की ओर अग्रसर होता है तभी उसे समझना चाहिए कि उसके नूतन जीवन का सूत्रपात प्रारम्भ हुआ। उसके अन्दर "कोऽहम्" की भावना उत्पन्न होती है

और कालान्तर में वही "सोऽहम्" के रूप में प्रतिध्वनित होती है और तब उसे अपने अखंड नित्य स्वरूप का ज्ञान होता है।

छोरन ग्रहि पाइ जो सोई। तब यह जीव कृतारथ होई।

पूर्णाहम् भाव तो केवल शिव में ही सम्भव है। माया से समावृत होने के कारण जीव अनात्मा को ही आत्मा समझ बैठा है। आत्मा में अनात्मभाव और अनात्म में आत्मभाव ही तो भयंकर अनर्थकारी और दुःख का कारण है। इस प्रकार वह देह प्रमाता बन बैठता है और तब वह स्थूल (भौतिक) देह के साथ "मैं"-पन का गठबधंन कर बैठता है। अनेकों जन्म तक बड़े प्रयास से इससे मुक्त होने पर वह प्राण प्रमाता और बुद्धि प्रमाता बन बैठता है। इस प्रकार वह "सरग से गिरा और खजूर पर अटक रहा" की कहावत को चरितार्थ करने लग जाता है। अन्त में 'ताहू पर कुछ और के अनुसार उसका मैं-पन शून्य से जुड जाने पर वह अपने को शून्य प्रमाता मान बैठता है। परन्तु सद्गुरु की कृपा से अन्तर्चक्षु खुलने पर उसे यह ज्ञान होता है कि मैं इन सब का अवभासक हूँ। तब कहीं उसे अपने स्वातंन्त्र्य और व्यापकत्व का बोध होता है और वह अपने को शिव प्रमाता समझता है। वस्तुतः इस स्थिति में पहुँचना ही परम पुरुषार्थ है जो केवल गुरु की कृपा से ही सम्भव है।—

देहप्रमातृतां त्यकत्वा हित्वा बुद्धि प्रमातृताम्।
प्राण प्रमातृता हेया हेया शून्य प्रमातृता॥
एवं मितात्मतां त्यक्त्वा दुःखाभासविधायिनीम्।
अनिर्वाच्य पदे स्वच्छे स्थेयं स्वस्मिंश्चिदात्मनि॥

पूज्य पाद आचार्य जी न्याय, व्याकरण और वेदान्त के मूर्धन्य विद्वान होने के साथ ही साथ परम योगी हैं। विद्वत्ता और योग का अनोखा समायोग आपमें देखने को मिलता है। आपने काश्मीर के अनुपम शैवागम के अध्ययन और अनुशीलन में अपना जीवन लगा दिया। शैव दर्शन के गूढ़ से गूढ़ और जटिल से जटिल ग्रन्थों के गम्भीर भावों को सहज ही समझा देने वाले इस मनीषी के दर्शन से ऐसा प्रतीत होता है कि वे सचमुच ही अभिनव गुप्त ही हैं। एकान्तवासी, सदैव शिव भाव में लीन रहने वाले आप को देखकर शिवस्त्रोत्रावलि का प्रथम श्लोक ध्यान में आ जाता है।—

न ध्यायतो न जपतः स्याद्यस्याविधिपूर्वकम्।
एवमेव शिवाभासस्तं नुमो भक्तिशालिनम्॥

जिस प्रकार शिशु अपने सहज ज्ञान से अपनी माता को पहिचान जाता है उसी प्रकार पूर्ण निष्ठा से आप के किसी भी श्लोक के हृदयंगम होने पर सत्यस्वरूप 'अहम्' की सहज ही में पहिचान हो जाती है। संसार में रहते हुए, किस प्रकार वो सदैव अपने स्वरूप में स्थित रहते हैं, इसकी अभिव्यक्ति उन्हीं के शब्दों में हो जाती है।

प्रिय स्मृति प्रसंगेऽस्मिन् उमाकान्तो न विस्मृतः।
स्मृतः सर्वक्षणे यस्मात् स्वस्वरूपतया स्थितः॥

आप अपनी "गुरु फैक्टरी" में सदैव ही बड़े सरल और बोध गम्य ढंग से शैवागम की शिक्षा-दीक्षा देते रहते हैं। आपने कभी शिष्य नहीं बनाया क्योंकि आप सदैव कहते रहते हैं—

ना मया क्रियते शिष्यः कृतः शिष्यो न कश्चन्।
शिष्यतामिच्छते सद्यो दीयते गुरुता मयाः॥

काश्मीर के मस्तानों की भांति सदैव स्वरूप में मस्त रहने वाले आप प्रायः कहते रहते हैं मत कुछ छोड़ो, मत कुछ पकडो, छोड़ पकड़ की बुद्धि छोड़ो। इसी प्रकार अभिनव गुप्त महाराज ने भी कहा है—

न त्यागी न परिग्रही भज सुखं सर्वं यथावस्थितम्।
मा किंचत् त्यज मा गृहाण स्वस्मिन् यथावस्थितः॥

सब कुछ तो अपने में ही रहा है; फिर पकडे छोड़ने का प्रश्न ही कहाँ है। पूज्यपाद अभिनव गुप्त जी की निम्न पंक्तियों से यह भाव स्वतः स्पष्ट है।

रागद्वेष सुखासुखोदयलयाहांकर दैन्यादयो।
ये भावाः प्रविभान्ति विश्व वपुषो भिन्नस्वरूपा ने ते॥
व्यक्ति पश्यसि यस्य यस्य सहसा तत्तदेवाकात्मना।
संविदरूपमवेक्ष्य किं न रमसे तद्भावना निर्भरः॥
भावानां न समुद्भवोस्ति सहजस्त्वद्भाविता भान्त्यमी।
निसत्यापि सत्यामनुभव भ्रान्त्या भजन्ति क्षणम्॥
निःसत्ये चपले प्रपञ्चनिचये स्वप्नभ्रमेपेशले।
शंकातंक कलंक युक्तिरचनातीतः प्रबुद्धोभव॥

भगवान शंकर और उनमें ही लीन रहने वाले भक्तों का क्या मार्ग है, इसको बड़े ही सुन्दर ढंग से शिव स्त्रोत्रावलि में वर्णन किया गया है।

दुःखान्यपि सुखायन्ते विषमप्यमृतायते।
मोक्षायते च संसारो यत्रभार्गः स शाङ्करः॥

इस पुस्तक में संगृहीत सभी श्लोक बेजोड़ हैं। यदि किसी को एक भी श्लोक से 'अहम्' का यथार्थ अर्थ बोधगम्य हो जाय तो ऐसे भाग्यवान भक्त का जीवन धन्य है। सदैव 'स्व' में स्थित रहने वाले आचार्य झा जी वास्तवमें नररूपी विरूपाक्ष है।

सत्यं शिवं सुन्दरम्

विष्णुदत्त शुक्ल

बी २/२६२ एच
भदैनी, वाराणसी

दो शब्द

आवत एहि सर अति कठिनाई । राम कृपा बिनु आइ न जाई ।।
अतिशय कृपा जाहि पर होई । पाँव धरै एहि मारग सोई ।।

आध्यात्मिक मार्ग में प्रवेश अत्यन्त कठिन है, बिना भगवत्-कृपा के प्राणी की प्रवृत्ति इस मार्ग में नहीं होती । भवगत्-प्रेरणा के फलस्वरूप ही प्रातःस्मरणीय आचार्य श्री पं० रामेश्वर जी झा का सान्निध्य प्राप्त हुआ । विगत वर्षो से उनके सान्निध्य, वात्सल्य एवं कृपा का भाजन होने का मुझे सौभाग्य प्राप्त हुआ, जिससे मेरी जीवनधारा में एक अलौकिक परिवर्तन आया, जिसकी परमानन्ददायक स्पष्ट अनुभूति वर्णनातीत है ।

आचार्य जी न्याय, व्याकरण एवं कश्मीर शैव दर्शन के उद्भट विद्वान् हैं । सरस्वती का साक्षात् वास उनकी जिह्वा पर रहता है । ऐसी अनुभूति उनके सान्निध्य में आने पर हुई । हम लोगों को मन्त्रमुग्ध-रूप से उनकी वाणी के श्रवण का प्रायः सौभाग्य प्राप्त हुआ है । कहीं से, किसी विषय पर, किसी समय प्रश्न करने पर उसका तुरन्त समुचित उत्तर एवं व्याख्या सहज, अत्यन्त सरल तथा बोधगम्य शब्दों में करना उनकी विशेषता है । आचार्य जी का स्वभाव बालकों के सदृश एकदम सरल, निश्छल एवं निरीह (कामना-विरहित) है । अनेकानेक प्रसंग में उनकी वाणी की सत्यता का स्पष्ट अनुभव मैंने स्वयं किया है । आपको साक्षात् शिवस्वरूप कहना कोई अतिशयोक्ति न होगी । विद्या के साथ-साथ आपकी तपस्या भी पूर्ण है । आचार्य जी की वाणी की सत्यता के प्रमाणस्वरूप ही यह पुस्तक आपके हाथ में है, जिसकी मैंने कभी कल्पना भी नहीं की थी ।

आचार्य जी का यह अभ्यास रहा है कि नित्यप्रति के स्वानुभवों का श्लोकबद्ध अंकन वे अपनी दैनिन्दिनी में करते रहे हैं । यह क्रम विगत अनेकानेक वर्षो से चला आ रहा है । इसको प्रकाश में लाने की उनकी कभी कामना नहीं रही, किन्तु उनके सान्निध्य में उनके अनुभवों को श्रवण करने के पश्चात् इसके प्रकाशन का लोभ संवरण करना हम लोगों को असम्भव-सा प्रतीत होने लगा । हम लोगों की बलवती इच्छा जानकर उन्होंने प्रकाशन की अनुमति प्रदान कर दी, तथापि प्रथम प्रयास होने के कारण ही इसके प्रकाशन में काफी विलम्ब हुआ ।

आचार्य जी ने श्लोकों के चयन की पूर्ण स्वतन्त्रता मुझे प्रदान की थी । अतः मुझे जो अत्यन्त प्रिय श्लोक समझ में आये उन्हीं को पाठकों के समक्ष प्रस्तुत कर रहा हूँ । चूंकि सत्य एक है, जो नित्य, निरंजन, अविनाशी, अक्रम एवं सर्वत्र विद्यमान

है। अतः इस ग्रन्थ में किसी क्रम का अवधारण नहीं किया गया है। इस ग्रन्थ की यही विशिष्टता है कि इसका प्रत्येक श्लोक ही एक मन्त्र है एवं विशुद्ध अहंभाव की प्रत्यभिज्ञा कराता है।

'ईश्वर अंश जीव अविनाशी। चेतन अमल सहज सुखरासी।' जीव ईश्वर का ही अंश है, जो निर्विकार, निरञ्जन, स्वच्छ, अमल प्रभृति संज्ञाओं से भी सम्बोधित किया जाता है, वही ज्ञान का भी अधिकारी है। शरीर तो माध्यम मात्र है, शरीर को ईश्वर का मन्दिर कहा ही गया है। भ्रान्ति, अविद्यादि भी शरीर (बुद्धि, मन, इन्द्रिय-समुदाय) को ही होती है। मैं हूँ। मैं वही हूँ। मैं पूर्ण हूँ। अहं ब्रह्मास्मि, सोऽहं, हंसा, अहं पूर्णोऽस्मि, सर्वं खल्विदं ब्रह्म, प्रभृति अनेक वाक्य प्रत्यभिज्ञा के लिये शास्त्रों में उल्लिखित हैं। लेकिन इन वाक्यों पर विश्वास एवं श्रद्धा होना सहज नहीं है।

भवानीशंकरौ वन्दे श्रद्धाविश्वासरूपिणौ।
याभ्यां विना न पश्यन्ति सिद्धाः स्वान्तःस्थमीश्वरम्॥

इसी श्रद्धा-विश्वास को दृढ करने में गुरु की परम उपयोगिता है; क्योंकि जिस गुरु ने स्वयं अनुभव प्राप्त किया है वही शिष्य का मार्ग-निर्देशन करने में समर्थ है। वैसे आचार्य जी शिष्य नहीं बनाते लेकिन हम उनको गुरुता प्रदान कर स्वयं को परम सौभाग्यशाली अनुभव करते हैं।

इसी श्रद्धा-विश्वास को पाठकों के हृदय में दृढता प्रदान करने की भावना से प्रेरित होकर ही, आचार्य जी के अनुभवों का अति सूक्ष्म संकलन प्रकाशित किया जा रहा है।

अन्त में श्री मार्कण्डेय जी शुक्ल को भी धन्यवाद देना मैं अपना परम कर्तव्य समझता हूँ जिन्होंने पूर्ण मनोयोग से इसका संशोधन किया है। फिर भी छपाई में यदि कहीं कोई त्रुटि हुई हो तो सहृदय पाठकों से आग्रह है कि हमें अवश्य सूचित करें जिनको आगे के संस्करणों में ठीक किया जा सके।

आचार्य जी की निधि के ये कुछ रत्न ही नमूने के तौर पर प्रस्तुत किये जा रहे हैं। आशा है, पाठकों का सहयोग प्राप्त कर उनकी पूर्ण निधि, जो कि उनकी दैनिन्दिनी में समाहित है, भविष्य में अवश्य प्रकाशित होगी।

त्वदीयं वस्तु गोविन्द तुभ्यमेव समर्पये।
गृहाण सुमुखो भूत्वा प्रसीद परमेश्वर॥

श्री गुरवे नमः

बी १/४९-५०
असी, वाराणसी

संग्रहकर्त्ता
विनोदशंकर वाजपेयी

गुरुवन्दना

महामाहेश्वरं वन्दे गुरुं श्री लक्ष्मणाभिधम् ॥
अवतीर्णं शिवं साक्षात् पृथिव्यां पूर्णताप्रदम् ॥१॥

सर्वाध्वोर्ध्वे स्थितो यो निजपरमहसा
भासयन् विश्वमेत-
च्चित्राकारं विचित्रं सचरमचरकं
भिन्नभिन्नस्वरूपम् ॥
स्वैरी तत्रापि पूर्णो जनिमृतिरहितो
भाति देहेन तिष्ठं-
स्तं देवं लक्ष्मणाख्यं प्रभुवरमनिशं
देशिकेन्द्रं नमामि ॥२॥

निःसीमनित्यनिजरूपशिवस्वरूपे
लब्धा स्थितिर्निखिलविश्वमयस्वभावे ॥
येन त्वदीय करुणामृतनिर्भरेण
तस्यैष ते चरणयोस्त्रिविधः प्रणामः ॥३॥

यत्पादस्मरणं नित्यं दुःखं मोहं व्यपोहयत् ॥
अद्भुतां तनुते सद्यः शिष्यस्यान्ते चमत्कृतिम् ॥४॥

तस्यैव गुरुराजस्य लक्ष्मणस्य दयाम्बुधेः ॥
प्रणामः पादयोर्नित्यं कृतो यो मनसा मया ॥५॥

तत्पुञ्जो वचसा तस्मै तत्प्राकट्यदिनोत्सवे ॥
मूर्ध्नाद्य क्रियमाणेन साकं भक्त्या समर्प्यते ॥६॥

आकल्पाद्भवभूमिकाभिरवनौ नित्यं सरन् दुःखितो,
लेभे नैव कदापि निर्मलसुखं भ्रान्त्या भ्रमन् संसृतौ ॥
दैवाद्दर्शनमाप्तवान् भवगुरोः श्री लक्ष्मणस्य प्रभो·
राह्लादैःपरिपूरितोस्मिसततंध्यायेगुरुं सर्वदम् ॥७॥

विकल्पजालैः प्रसृतार्थ जाले
विभासमानं त्वविकल्परूपम् ॥
मूढैरदृश्यं कृपयैकगम्यं
पश्यामि देवं गुरुलक्ष्मणाख्यम् ॥८॥

अकिंचनत्वं च विवासनत्वं
सर्वात्मभावश्च निजात्मभानम् ॥
सम्पत्तिमेतां गुरुतो विलभ्य
सेवे सदाऽहं गुरुपादपद्मम् ॥९॥

पद्यैरेतैस्तु यो नित्यं स्तौति श्री गुरुलक्ष्मणम् ॥
भवपाशविनिर्मुक्तो भवत्वं लभते ध्रुवम् ॥१०॥

सर्वस्य तत्त्वस्य च तत्त्वभूतः
गुरुः स एको न हि कश्चिदन्यः ।।
विभासमानोऽपि न भासते यः
गुप्तो गुरुः सोऽभिनवः सदास्ते ।।११।।

★

कृष्णाय नमः

भ्रमद्भ्रान्तैरुक्ते स्वमतिसदृशे तत्त्वनिवहे
कथं लभ्या शान्तिर्नयनपथदूरे तनुभृता ।
विमृश्यैवं कृष्णे मधुरसुभगे पीतवसने
वधान द्राक् स्नेहं परमपुरुषे शान्तिसुखदे ।।

★

❀ लक्ष्मीवन्दना ❀

देवीन्दिरे ! सर्वसुखैकदात्रि !
प्रसीद मातः करुणां विधेहि ।
आजन्मतो यत् समुपेक्षिता त्वं,
तत्क्षामयेऽज्ञानकृतापराधम् ॥ १ ॥

त्वद्दृष्टिपूतं ननु भाग्यवन्तं
जनं हि सर्वे गुणिनोऽनुयान्ति ।
न ज्ञानमत्तेन मयाकृतं तत्
क्षमस्व पद्मे ! स्वजनेऽपराधम् ॥२ ॥

व्यग्रोऽस्मि वृद्धोऽस्मि चिरक्रियोऽस्मि,
दीनोऽस्मि मातः शरणागतोऽस्मि ।
जहीह्युपेक्षां मयि दीनदीने
हरिप्रिये ! त्वं करुणार्णवासि ॥ ३ ॥

यावन्न ते देवि कृपाकटाक्षो,
दीने भवेद्दैन्यविघातदक्षः ।
तावज्जनो नैव लभेत सौख्यं,
स्वास्थ्यञ्च तत् स्वात्मरतिप्रदं यत् ॥ ४ ॥

सम्पद्विधात्री च विपद्विहन्त्री,
त्वं मे प्रसीदात्मरतिं प्रयच्छ ।
कारुण्यकल्लोलपरम्पराब्धे,
मामुद्धर त्वं परतन्त्रतायाः ॥ ५ ॥

जानामि नाहं भवदर्चनां तां,
शीघ्रं यया त्वं दयसे हि दीने ।
मातस्ततः केवलमार्तनादं,
कृत्वाऽह्वये त्वं कुरु देवि दृष्टिम् ॥ ६ ॥

त्वं पालिकैकैव हि विश्वमातः,
कर्मानुगो भोग इति भ्रमोऽयम् ।
भ्रान्तस्य भोगे परिभाति भेदो,
विश्वात्मनो मे न तव स्वरूपे ॥ ७ ॥

विश्वस्य लोकस्य च तस्य भोग-
भेदस्य कर्त्री त्वमसि स्वतन्त्रा ।
एकाकिनी नास्ति निमित्तमन्यत्,
तस्माच्छरण्ये शरणं ममासि ॥ ८ ॥

मातासि सर्वस्य जनस्य धात्री,
त्वं रक्षिका दुर्गतिनाशिका त्वम् ।
आगांसि पुत्रस्य शतानि दृष्ट्वा,
माता न दुद्रोहिषतीव मातः ॥ ९ ॥

आजन्मतस्ते चरणारविन्दं
न सेवितं देवि ! मया विमुह्यता।
त्वं सेविता सर्वगुणाय कल्पसे
प्रसीद मातः ! कुरु मा विलम्बम् ॥ १० ॥

अद्यापि किं त्वं दयसे न मातः
र्गतिस्त्वदन्या न हि मेऽस्ति पद्मे !
पादे लुठन्तं परितो रुदन्तं
पुत्रं हि माता समुपेक्षते क्व ॥ ११ ॥

रत्नाकरस्तेऽस्ति पिताऽप्यगाधो—
विष्णुश्च लोकस्य पतिः पतिस्ते।
पीयूषवर्षी विधुरस्ति बन्धुः
पद्मे ! स्वयं त्वं ननु लोकमाता ॥१२॥

शुण्डाहृतस्वर्णघटामृतैस्त्वां
गजैश्च शुभ्रैरभिषिच्यमानाम् ।
पद्मासनस्थामपि पद्महस्तां
श्रये स्वसाम्राज्यविधानदत्ताम् ॥१३॥

महार्हरत्नैः परिदीप्यमानां
लावण्यसन्दोहविभासिताङ्गीम् ।
पादाब्जशोभाजितकामकान्तां
कार्तस्वराभां प्रभजामि पद्माम् ॥ १४ ॥

ऐश्वर्यरूपा प्रभुता प्रभूणां
सिद्धिर्मुनीनामसि कामदोग्ध्री ।
शब्दार्थरूपा प्रतिभा कवीनां
सम्पत्सवित्री सुकृतेगृ हश्रीः ॥ १५ ॥

पद्मे ! व्यतीतानि तवास्य सूनो-
स्त्वां सेवमानस्य बहून्यहानि ।
आर्तं शरण्ये ! शरणागतं मां
दृष्ट्वापि किं त्वं दयसे न भूत्यै ॥१६॥

न मेऽस्ति शक्तिर्न च मेऽस्ति भक्तिः
कथं रमे ! त्वामनुकूलयामि ।
यदि स्वयं त्वं दयसे न मात-
स्तवैव वात्सल्यमियाद्विनाशम् ॥१७॥

रक्तपद्मनिभां रक्तवनमालाविभूषिताम् ।
रक्ताम्बरां महालक्ष्मीं नौमिहल्लकवासिनीम् ॥१८॥

पद्मासने स्थितां पद्मां पद्मरागाभां पराम् ।
प्रणमामि महासम्पद्दायिनीं विष्णुवल्लभाम् ॥१९॥

पश्य पद्मे ! परावृत्य वाग्देवीं भक्तवत्सलाम् ।
या चोपतिष्ठमाना त्वां याचतेऽनुग्रहं मयि ॥२०॥

पारतन्त्र्यात्परं दुःखं नास्त्यन्यज्जगतीतले।
तद्दूरी कुरु मे देवि दीनोद्धारधुरन्धरे ॥२१॥

रतिं प्रयच्छ स्वपतिस्वरूपे
विनाश्य चिन्तां विभवप्रदानैः।
प्रसीद पद्मे ! कुरु मा विलम्बं
न याचको धैर्यधरो हि दृष्टः ॥२२॥

विलम्ब्य दाता किल भिक्षुकाय
ददाति किंचिद्विकलो विमूढः।
समस्तसम्पत्प्रभवासि मात-
र्न तेऽस्ति कालः करणेऽपि हेतुः ॥२३॥

या याच्यमानं जननी सुतं न
सम्पद्विहीनापि निराकरोति।
ऐश्वर्यसम्पन्नतया चकासि
मातः कथं त्वं कुरुषे विलम्बम् ॥२४॥

गृह्णामि पादाववरोधयामि
त्यक्ष्याम्यहं नो शरणं मम त्वम्।
रुद्धा स्थिरा त्वं वस सन्निधौ मे
भद्रं तु तेनैव ममाखिलं स्यात् ॥२५॥

अनेन स्तोत्रराजेन स्तुता पद्मासना मया।
ददातीष्टं यथा मह्यं तथान्येभ्योऽपि दास्यति ॥ २६ ॥
रामेश्वरेण विदुषा पञ्चविंशतिका स्तुतिः।
कृतेयमिन्दिरादेव्या भोगमोक्षोभयप्रदा ॥ २७ ॥

श्री रामचन्द्राय नमः

अलक्ष्यं ते रूपं नयनपथगं कर्तुमनसा
जनो मायामुग्धो रचयति च नामादिकमपि।
अतस्त्वां रामाख्यं नरतनुधरं ब्रह्म परमं
भजे सीताजानिं सकल-सुखदं नीलमणिभम् ॥

श्री कृष्णाय नमः

सौन्दर्यामृत-पूर्ण-सिन्धु-सहजोल्लासोल्लसद्-विग्र
कारुण्याम्बु-सरः-सरोज-नयने व्यक्ते सुखैकास्पदे।
भक्तस्वान्त-निवास-हेतु-विधृताकारे परब्रह्मणि
कृष्णे कस्य न चित्त-चौर्य-चतुरे चेतस्समाधीयते ॥

श्री दुर्गादेव्यै नमः

शिवो रामः कृष्णो भवसि सहसा पौंस्नवपुषा
सती सीता राधा विहरसि तथा शक्तिजनुषा।
गिरा-देवी भूत्वा हरसि हृदयं स्निग्ध-वचसा
त्वमेवैका दुर्गे! रचयसि महानाटकमिदम् ॥
ब्रह्मादि – देवर्षि – सुयोगिवर्गै-
रन्यैश्च भूतैरनिशं स्तुताऽपि।
याऽस्त्यस्तुताऽद्यापि महत्यनन्ताः
स्तुत्यैकरूपां ननु तां स्तुवेऽहम् ॥

भवान्यै नमः

भजे भवानीं भवभूतिभूतां
भजे भवानीं भवभानरूपाम् ।
भजे भवानीं भवभीतिहन्त्रीं
प्रसन्नचित्तां निजदेहरूपाम् ॥ १ ॥

भवाय भावांश्च विभावयन्तीं
विद्यामविद्यां भवतीं भवन्तीम् ।
अबाधितेच्छां शिवताप्रदात्रीं
भजे भवानीं निजभानभूताम् ॥ २ ॥

भजे तृष्णास्वरूपां त्वां
भजे तृष्णापहारिणीम् ।
शिवतां सर्वरूपां तां
ददतीं त्वां भजे शिवाम् ॥ ३ ॥

भजे दिव्यां परां शक्तिं
परमानन्द-भासिकाम् ।
भजे स्वरूप-संवित्ति-
मद्वैतानन्द-वर्षिणीम् ॥ ४ ॥

क्षीरभवान्यै नमः

दुष्टस्थितेर्विनाशोऽस्तु
स्थितिः साध्वी प्रवर्तताम् ।
इत्येव याचे त्वां मातः !
कुरु देवि ! कृपां मयि ॥

नमः परम-शिवाय

महादेवं दिव्यं सकल-भवसारं शरणदं
जनः को जानीते निज-हृदयगं विश्ववपुषम् ।
ततः शम्भुर्भूयाद् भुजगपति-हारेन्दु-मुकुट-
स्त्रिनेत्रो गौरीशो विमलमतिदो नेत्रपथगः ॥

नासीदृशस्त्वं न च तादृशस्त्वं
त्वं कीदृशोऽसीत्यनुयोग-शून्यः ।
त्वं यादृशोऽसीत्यपि नैव वक्तुं
योग्योसि, शम्भो ! त्वमसि त्वमेव ॥

अत्र तत्र च सर्वत्र सदेदानीं यदा तदा ।
त्वमेवैकः सदा शम्भो ! विभासि विविधात्मकः ॥

दिव्याय देवाय दिगम्बराय नित्याय शुद्धाय महेश्वराय ।
रामेश्वरायाखिलविग्रहाय स्वात्मैव रोचेत शिवस्वरूपः ॥

भवं भवानी-सहितं नमामि

विधिक्रिया-ज्ञान-गणैरलभ्यं-
समस्त शास्त्रोदधि-सारभूतम् ।
स्वतः प्रकाशं हृदये वसन्तं
भवं भवानी-सहितं नमामि ॥१॥

गर्भीकृताशेष-जगत्स्वरूपं
स्थितं प्रतिप्राणि-निजात्मभूतम् ।
अनादिमेकं बहुधा विभक्तं
भवं भवानी-सहितं नमामि ॥२॥

सर्वस्वरूपेण विभासमान-
मगुह्यगुह्यं मनसाप्यगम्यम् ।
विस्रम्भदृश्यं हृदये बहिश्च
भवं भवानी-सहितं नमामि ॥३॥

विकल्पजालैः प्रसृतार्थजालै-
र्विभासमानं त्वविकल्परूपम् ।
मूढैरदृश्यं विदुषैकगम्यं
भवं भवानी-सहितं नमामि ॥४॥

प्रकाशितैः स्वेन विभास्यते यो
वेदादिशब्दैर्निखिलैश्च भूतैः ।
तमेकमेवाहमिति (स्वशक्त्या) प्रकाश्यं
भवं भवानी-सहितं नमामि ॥५॥

वेत्तृस्वरूपं ननु वेद्यरूपं
विभाति यो वेदनरूपमेकः
तमेव नित्यं त्रिपुटी-विहीनं
भवं भवानी-सहितं नमामि ॥६॥

देवैर्मनुष्यैरसुरैरवेद्यं
संस्तूयमानं स्तुतिभिर्महेशम् ।
स्वच्छं स्वतन्त्रं जगदेकवन्द्यम्
भवं भवानी-सहितं नमामि ॥७॥

वेलां भवाब्धेस्तरणिञ्च तस्य
हेतुं निधानं करणं क्रियां च ।
भोगस्य मोक्षस्य विधातृ-सिंहं
भवं भवानी-सहितं नमामि ॥८॥

———

(शिव तत्व विमर्शः)

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात्पूर्णमुदच्यते ।
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ॥

ॐ पूर्ण है वह पूर्ण है यह पूर्ण से निष्पन्न होता पूर्ण है ।
पूर्ण में से पूर्ण को यदि लें निकाल शेष तब भी पूर्ण ही
रहता सदा ॥

अथेति संस्पर्शविहीनतत्त्वे तदात्मके तत्प्रतिपादिके च ।
सदैकरूपेण विजृम्भमाणे प्रारम्भपर्यन्तकथा कथं स्यात् ॥१॥

स्वस्मात्स्वयं समुद्भूय स्वमलक्ष्यं विभासयन् ।
शब्दस्पन्दमयो धर्मः शिवस्यास्त्यहमात्मकः ॥२॥

परावाक् प्रोच्यते सैव शिवशक्तिरियं स्मृता ।
योगिनां स्वावमर्शः सः कृत्रिमाऽकृत्रिमात्मकः ॥३॥

अभिज्ञातः शिवो येन स्व-स्वरूपतया दृढम् ।
तस्याऽकृत्रिम एवासौ भात्यन्यस्य तु कृत्रिमः ॥४॥
(पाठान्तर--कृत्रिमो मितयोगिनः)

इदानीमहमेवास्मि तदानीमहमेव च ।
अत्र तत्राप्यहं राजे मयि भेदो न विद्यते ॥५॥

जन्मकाले यथैवाहं मृत्युकालेऽप्यहं तथा ।
सुषुप्तावपि जागर्त्तौ मृये जाये यथैव हि ॥६॥

भेदवासनया ग्रस्तं न भेदः क्वापि मुञ्चति ।
अभेदं पश्यतो भेदः स्वस्फुलिङ्ग इव स्थितः ॥७॥

ममतैका महाशत्रुः पुत्रदारगृहादिषु ।
बीजं तस्याः शरीरे या खप्राणबुद्धिगा पुरा ॥८॥

यो मूढः स्थूलभूतां तां त्यक्तुं नार्हति भिन्नगाम् ।
स कथं सूक्ष्मभूतां तां शून्यदेहादिगां त्यजेत् ॥९॥

शून्यप्रमातृतापन्नः क्रमाद्देहप्रमातृताम् ।
प्राप्याप्नोति च मूढत्वं पशुत्वं जन्ममृत्युदम् ॥१०॥

यो धीरो गुरुतो ज्ञात्वा स्वात्मानं शिवमद्वयम् ।
मितप्रमातृतां हित्वा स्वं रूपमधितिष्ठति ॥११॥

स शिवोऽस्त्यत्र भूलोके पञ्चकृत्यपरायणः ।
सर्वात्मा सर्वकृच्चापि स्पृहावानपि निःस्पृहः ॥१२॥

पञ्चकृत्यरतश्चापि नित्यानुग्रहरूपवान् ।
नरात्मादृश्यमानोऽपि चिदानन्दस्वरूपवान् ॥१३॥

स्वरूपं शिवरूपं हि स्वप्रकाशमयं स्वयम् ।
अस्ति सिद्धं पुनस्तस्यापेक्षते भानमेव यत् ॥१४॥

अस्ति तद्देहतादात्म्यवासनाशेष एव हि।
देहोऽपि माययाऽनित्यः शंकरस्यैव विद्यते ॥१५॥

स्वात्मसिद्धः स्वयं पूर्णोऽद्वितीयोऽस्ति शिवः स्वराट्।
अनन्तशक्तिसम्पन्नः शान्तोऽशान्त इव स्थितः ॥१६॥

इत्येव निश्चयः कार्यः पौनःपुन्येन धीमता।
नान्यो यत्नो गृहीतव्यः सिद्धस्वात्मोपलब्धये ॥१७॥

ज्ञातुं द्रष्टुञ्च भवितुं यतन्ते ये त्वहर्निशम्।
भ्राम्यन्तस्ते स्वयं चान्यान् भ्रामयन्ति भवेऽबुधाः ॥१८॥

अशान्तोऽविद्यया भाति शान्तो विद्यात्मना स्थितः।
विद्याऽविद्याविभागोऽपि प्रख्योपाख्यार्थमेव हि ॥१९॥

विकल्पातीततत्त्वं तु ब्रह्म स्वात्माख्यमद्वयम्।
वक्तुं न शक्यते भेदमन्तरा तु यतस्ततः ॥२०॥

भेदः प्रकल्पिस्तत्र स्वस्वबुद्ध्यनुसारतः।
ऋषिभिस्तत्र भेदेऽपि वैचित्र्यं बहुधा स्थितम् ॥२१॥

यस्मादलक्ष्यरूपाद्धि स्पन्दो नित्योऽहमात्मकः।
नित्यं प्रचलतीवास्ति सोऽहमस्मि सनातनः ॥२२॥

नाहं देहोऽस्मि देहोऽयं मम भाति पृथक् स्थितः।
देहोऽहमिति बुद्धिर्या साऽविद्याऽज्ञानमेव तत् ॥२३॥

सदा विकासमापन्नः पूर्ण एवास्मि सर्वदा।
संकोचं नैव गृह्णामि ततो नाऽपूर्णता मयि ॥ २४॥

अलक्ष्योऽपीच्छयैवाहं विश्वं स्वस्मिन् विभावयन्।
भुवनान्यप्यनन्तानि स्थितोऽस्म्यद्भुतशक्तिमान् ॥२५॥

पश्यँश्च स्वात्मानमगम्यमन्यैस्तृप्तिं परामाप्य पुनर्मितेऽस्मिन्।
देहे वसन्नेव भजामि सर्वमद्वैत एवास्मि यतः सदाऽहम् ॥२६॥

आत्मानमद्वैतमवैति कश्चिद् देहे वसन्नेव सुधीः स धन्यः।
उग्रैस्तपोभिः परिशुद्धचेताः संवित्तिदेव्यैव हि दीक्षितो यः ॥२७॥

स्वात्मस्वरूपं नियतं न किञ्चित् तदिच्छया भाति यथेप्सितं तत्।
शुद्धस्वरूपं स्वयमेव भाति अलक्ष्यमेवाहमिति प्रतीतम् ॥२८॥

अविकल्पे स्थितो नित्ये व्यापके स्वात्मनि प्रभौ।
पश्चात्पश्यति देहाश्च बहवः सन्ति मे स्थिताः ॥२९॥

अत्र देहे यथैवास्मि परिच्छिन्ने मितात्मनि।
अहंप्रज्ञः प्रभुत्वाप्तोऽन्यत्राप्यस्मि तथैव हि ॥३०॥

दृढनिश्चयवानित्थं पश्यँश्चापि तथैव तु।
न बिभेति न जानाति जन्ममृत्यू भयंकरौ ॥३१॥

अपि देह इवान्यत्र देहस्थोऽपि भवत्ययम्।
निजदेह इवान्यस्मिन् देहे कर्ता भवत्यसौ ॥३२॥

नाऽभ्यन्तरं यत्र न यत्र बाह्यं नोर्ध्वं न चाधो न च देशकालौ ।
उच्चावचं भाति निरञ्जनो योऽहं सो ह्यलक्ष्योऽपि सदैव लक्ष्यः ॥३३॥

अस्मिन्नेव वसन्देहे स्मरन्स्वातन्त्र्यमात्मनः ।
देहभासपरिच्छेदं हित्वाप्नोत्येव पूर्णताम् ॥३४॥

पूर्णभावमुपाश्रित्य यस्तिष्ठेत्सर्वदा पुमान् ।
स साक्षाच्छिव एवाऽस्ति दृश्यमानः पुमानपि ॥३५॥

सर्वत्र सर्वतः पूर्णं सर्वेच्छाज्ञानतः पुरा ।
त्वमसि व्यापको नित्यस्तिष्ठाऽहंभाननिर्भरः ॥३६॥

तिष्ठेदम्भान-निर्तलिप्तस्तिष्ठे-दम्भान-निर्गतः ।
इदम्भानमना नाऽप्तुं शक्नुयादात्मवैभवम् ॥३७॥
(अहम्भानरतो योगी तत्रास्ति, यद्विनाप्नुयात्)

विकल्प-निर्ह्रासतया विभामि भामात्ररूपोऽहमिदंविहीनः ।
सत्येत्र तस्मिन्नहमेव सर्वमित्थं विजानँश्च महेश्वरोऽस्मि ॥३८॥

न यते भवितुं कश्चिन्नित्यं स्वात्मन्यवस्थितः ।
यतमानोऽनभिज्ञोऽस्ति प्राप्तीच्छादैन्यदुःखितः ॥३९॥

अभिज्ञातस्वरूपस्य स्वेच्छयैवात्मनात्मनि ।
देहात्मना स्थितस्यापि स्थितिः सद्यः प्रजायते ॥४०॥

नापेक्षते क्रियाज्ञानं स्वप्रकाशात्मनि स्थितौ ।
इच्छामात्रेण तत्रस्थो भवन्निव भवत्यपि ॥४१॥

स्वस्मिन्नेव सदा कार्या श्रद्धाभक्ती रतिः स्पृहा ।
एष मृत्युजयोपायो भोगमोक्षोभयप्रदः ॥४२॥

शिवाभिन्नः स्वात्मा सततमिह देहेऽप्यहमिति
स्वशक्त्या व्यापिन्या प्रकटितशिवैश्वर्यमहिमा ।
निरातङ्को नित्यो जनिमृतिविकल्पेन रहितो
निराकाङ्क्षो लोके विहरति च लोकाञ्छिवयितुम् ॥४३॥

देहात्माप्यस्म्यदेहात्मा मितोऽप्यमित एव तु ।
अमितोऽपि मितो भामि मितोऽप्यमित एव हि ॥४४॥

अविच्छिन्नोऽपि विच्छिन्नो विच्छिन्नोऽप्यस्म्यविच्छिदः ।
पूर्णोऽप्यपूर्णवद्भामि भाम्यपूर्णोऽपि विश्वभूः ॥४५॥

श्रुत्वेत्थं गुरुतो यस्तु सद्योऽवाप्नोति पूर्णताम् ।
पश्यत्यात्मानमेवं च सनैवाप्नोत्यपूर्णताम् ॥४६॥

जन्म-मृत्यु-जरा-व्याधि-रोग-शोक-समन्वितः ।
देहोऽस्मि देहवाँश्चापि शिवः पूर्णोऽविकल्पितः ॥४७॥

पञ्चकृत्य स्वभावत्वात्सर्वं भाति मयि स्थितम् ।
नित्योऽनुग्रहरूपोऽस्मि सर्वभावप्रकाशदः ॥४८॥

सर्वतः प्रथमं सिद्धो भावाभावपदच्युतः ।
अस्म्यहं सङ्कितसर्वभानरूपो जगन्मयः ॥४९॥

स्वतः सिद्धोऽस्म्यहं नित्योऽहंविमर्शप्रकाशितः ।
हृदिस्थो व्यापकः स्वच्छः क्रियाकालानपेक्षकः ॥५०॥

देहोद्भूतां क्रियां चाहं न पश्यामि कदाचन ।
अहंविमर्शमेवैकं मन्त्रं नित्यं जपाम्यहम् ॥५१॥

प्रकाशमानतामात्रं रूपं स्वीयं शिवस्य मे ।
अहंविमर्शितो भानमन्तर्मुखतया स्थितम् ॥५२॥

मायाशक्त्या सदा भातीदन्तोल्लेखतया जगत् ।
प्रकाशमानं मत्तस्तद् मद्भिन्नं न हि भासते ॥५३॥

यत्किंचिद्भाति तत्पूर्वं पश्चादप्यस्म्यहं स्थितः ।
तत्कालेऽप्यस्मि तद्द्रष्टा त्रिकालाबाधितोऽस्म्यतः ॥५४॥

वर्तमाने वर्तमानः को न स्यात् सर्वशक्तिभाक् ।
भविष्यद्भूतचिन्ताप्तो विस्मृतात्मा न को भवेत् ॥५५॥

देहस्थ एवास्मि शिवोऽद्वितीयः
स्वच्छः स्वतन्त्रोऽविकृतस्वभावः ।
स्वातन्त्र्यशक्तिर्नहि देहनिष्ठा
स्पन्दात्मिका सा मयि पूर्णशक्तिः ॥५६॥

यत् कर्तुमिच्छामि तथैव सद्यः
सम्पादयन्नस्म्यहमीशकल्पः ।
स्वाभिज्ञयैवास्म्यहमीशधर्मा
संवित्तिदेव्यास्मि कृताभिषेकः ॥ ५७ ॥

पूर्णः सदैवास्म्यभिलाषशून्यो
देहाद्यहन्तारहितोऽस्मि नित्यः ।
कृत्येषु पञ्चस्वभिमानहीनो
ब्रह्मात्म–जीवात्म-शिवोऽद्वितीयः ॥ ५८ ॥

परिज्ञातस्त्वात्मा विमलतम एकोऽपरिमितः
सदा लक्ष्यो नित्यो वशति हृदये विष्ठित इव ।
विकल्पस्तस्येदं निखिल-जगदस्तीति विमृशन्
कथं कश्चिद्धीरो भवति च भवे दुःख-भरितः ॥ ५९ ॥

स्वस्थस्य सर्वदा स्वास्थ्यं नित्यं, देहेऽपि तिष्ठति ।
अस्वस्थस्य तु यत् स्वास्थ्यं तदनित्यं भयंकरम् ॥ ६० ॥

जातोऽस्म्यहं मरिष्येऽपीत्येवं ते या दृढा मतिः ।
देहात्मता दृढा सास्ति यथा सत्या तथैव तु ॥ ६१ ॥
(स्वात्मन्यपि दृढा प्रज्ञा कार्या नित्ये त्वया सदा)

जायते म्रियते देहो नाहं जाये म्रियेऽपि न ।
परिणामी सदा देहोऽपरिणामी त्वहं सदा ॥ ६२ ॥

उद्भूयोद्भूय लीयन्ते शक्तयो विविधा मम ।
ताभिः किं विक्रियामेमि स्वोर्मिभिश्च सुधाम्बुधिः ॥ ६३ ॥

अलक्ष्यं लक्षितुं नेच्छा सिद्धं साधयितुं न हि ।
नित्यं नित्यतया पश्यन् हृष्यन्नस्मि मुहुर्मुहुः ॥ ६४ ॥

स्थित एव स्थितिं कांचित् वाञ्छन् स्वीयां स्थितिं त्यजन् ।
क्लिश्नासि सततं व्यर्थं तिष्ठ स्वस्मिन् सदा सुखी ॥ ६५ ॥

स्थित एव स्वरूपे स्वे वाञ्छन् कांचित् स्थितिं पुनः ।
त्यजन् सिद्धां स्थितिं स्वीयां किं क्लिश्नासि मुहुर्मुहुः ॥६६॥

अनीदृशे स्वरूपे स्वे नित्यसिद्धेऽनपेक्षिते ।
अहमस्मीति विज्ञाते तिष्ठाह्लादसुनिर्भरः ॥ ६७ ॥

ईशं चिदानन्दघनं स्मरामि
स्वात्मस्वरूपं जगदेकबीजम् ।
नाहं श्रये विश्वमिदं निकृष्टं
घृणास्पदं लीनमनाः स्वरूपे ॥ ६८ ॥

चिदानन्दघनः शोभे विश्वातीतपदे स्थितः ।
विश्वं देहात्मकं नाहं पश्यन्नपि विभावये ॥ ६९ ॥

अवगच्छामि यद् यत्तु तत्तदस्ति न किंचन ।
भाति भूत्वा क्षणं स्थित्वा गच्छत्येव न तिष्ठति ॥ ७० ॥

व्यापकत्वादयो धर्माः सन्ति यावन्त ईश्वरे ।
तावन्तस्तत्प्रदेशेऽपि कल्पिते देहतो मयि ॥ ७१ ॥

यथाकाशस्य ये धर्माः घटाकाशेऽपि सन्ति ते ।
तथा शिवस्य ये धर्माः सन्ति ते मयि संस्थिताः ॥ ७२ ॥

गमनागमने क्वापि स्पृहा मे नैव विद्यते ।
निश्चित्त इव निश्चिन्तः तिष्ठन् देहेऽस्मि जीवितः ॥ ७३ ॥

किं नास्मि चाहं किल कोऽस्म्यहं न
कोऽहं न वाहं न मम क्रिया का ।
भुञ्जे न किं वा न विकल्पयामि
नाधारभूतोऽस्मि च कस्य कस्य ॥ ७४ ॥

आत्मानात्मस्वरूपोऽहं मयि जीवज्जडात्मकः ।
भासकश्चापि भास्यात्मा जन्ममृत्युविवर्जितः ॥ ७५ ॥

अत्युत्तमश्चाप्यधमोऽहमेव
महान् यशस्वी च कलङ्कयुक्तः ।
सर्वात्मकत्वादहमस्मि सर्व
एकोऽप्यनेकोऽस्मि विभासमानः ॥ ७६ ॥

मित्रस्वरूपोऽप्यहमेव भामि
शत्रुस्वरूपोऽप्यहमेव राजे ।
प्रशंसकोऽप्यस्मि च निन्दकश्च
स्वात्मस्वरूपोऽपि परस्वरूपः ॥ ७७ ॥

न दृश्यो नावधार्योऽहं स्मार्यश्चाप्यस्म्यहं न हि ।
सिद्धत्वान्न प्रमाणानां व्यापारो मम भासकः ॥ ७८ ॥

सर्वाधारं निराधारं सर्वमंगलकारकम् ।
वन्दे विशुद्धमात्मानं देव ! त्वां हृदयस्थितम् ॥ ७९ ॥

अरूपः सर्वरूपस्त्वं नित्याऽनित्यावभासकः ।
सर्वशक्तिसमापन्नः प्रसन्नस्त्वं सदा वस ॥ ८० ॥

मायामोहाद्यसंस्पृष्टो मायामोहैकभूषणः ।
एकाकी बहवो भूत्वा नर्तकोऽसि स्थिरः सदा ॥ ८१ ॥

अभिन्नं वेत्ति यो विद्वान् स्वात्मानञ्च गुरुं शिवम् ।
तन्नौमि मुक्तमात्मानं विद्याऽविद्योभयात्मकम् ॥ ८२ ॥

यद् वाञ्छामि मुहुर्मुहुश्च भवितुं ज्ञातुं यतेऽहं च यद् ।
गाढं गाढमुपाहरामि सततं पूर्त्यै च यद्विभ्रमात् ॥
तत्सर्वं स्वविकल्पजालमधुना हित्वा, स्वरूपं निजम् ।
शान्तं शश्वदुपैमि बोधममलं सत्यं शिवं सुन्दरम् ॥ ८३ ॥

यत्पश्यामि पुनः पुनः प्रतिदिनं बोद्‌धुं यतेऽहं च यद्
आदानक्रिययाऽऽकलय्य यदहो स्थातुं चिरं चेष्टये ।
तत्सर्वं स्वविकल्पदर्शितमिदं स्वल्पं विनाशोन्मुखं
हित्वात्मानमुपैमि शान्तममलं नित्यं शिवं निष्क्रियम् ॥८४॥

यद् यद्भाति मयि प्रकाशवपुषि स्वच्छे स्वतन्त्रेऽद्वये
तत्तद्रूपतया विभामि सततं देहात्मना संस्थितः ।
हित्वा कालकृताकृतेश्च कलनां तिष्ठन् स्वरूपे निजे
सर्वाधारतयाऽथ सर्वरहितो भासेऽहमेवाद्वयः ॥ ८५ ॥

देहो नास्मि न चास्मि माननिवहः शून्योऽपि नैवास्म्यहं
निर्बोधोऽस्मि निरञ्जनोऽस्मि नितरां सिद्धोऽस्मि साध्यो न हि ।
शश्वच्छान्ति समावृतोऽस्मि नियतिव्यापारदूरे स्थितः
पूर्णः पूर्णकलाभिहारनिरतः स्वच्छोऽस्मि निर्वासनः ॥८६॥

अस्म्येव यदहं नित्यं तद्भवन् भामि सर्वदा ।
शिवशक्त्यात्मको देवः स्थिरो नित्योऽहमद्वयः ॥८७॥

केचित् त्वामनिशं स्मरन्ति हृदये रामादिरूपं विभुं
केचिज्ज्योतिरुपासते च सततं शान्तं परं चिन्निभम् ।
अन्ये ब्रह्म परं विदन्ति विषयव्यावृत्तचित्तास्त्वहं
देव ! त्वामिह नित्यमेकमनघं पश्यामि सर्वात्मकम् ॥८८॥

विभाति यद् यत्तदहं विभामि
विभाम्यहं यत् तदिदं विभाति ।
विच्छिद्यमानं यदिदन्तया तत्
विश्रान्तिमभ्येति मयि प्रकाशे ॥८६॥

आत्मा यत्रात्मनैवायं सर्वरूपेण भासते ।
उपादेयं च किं तत्र हेयमेवाथवा भवेत् ॥६०॥

असन्निवृत्तिं सदवाप्तिकामं
करोमि नाहं निजलाभतुष्टः ।
न सन्नचासन्निजरूपमाद्यं
विकल्पकल्लोललयाधिगम्यम् ॥६१॥

शिवोऽविकल्पितः स्वच्छः सर्वभावसुनिर्भरः ।
स्वात्मा मुक्तस्य मुक्तोऽपि शिव एवास्त्यसंशयः ॥६२॥

मेयं ज्ञेयं च मे रूपं न तत् त्याज्यं कदाचन ।
हेयोपेयमतिस्त्याज्या स्वात्मविश्रान्तिरोधिका ॥६३॥

समोऽस्मि विषमश्चाहमदेहो देहवानपि ।
अनित्यो नित्य एवास्मि क्रिया कारक एव च ॥६४॥

इत्थं निश्चयसम्प्राप्तः गाधागाधविवर्जितः ।
स्वरूपे सर्वदा तिष्ठन् लोके लोको न तिष्ठति ॥९५॥

एकः शिवः सर्वमयः (सर्ववपुः) समन्ताद्
विद्योतमानो महतां हि दृष्टौ ।
येषां हि तेषां न हि जन्ममृत्यू (बन्धमोक्षौ)
क्रीडास्थली संसृतिरेव नूनम् ॥९६॥

त्वमेव सर्वस्य हृदि स्फुरन्ती
विश्वेऽपि विश्वार्थ (सर्वार्थ) विधानकर्त्री ।
अतोऽभिलष्यन्नपि कञ्चिदर्थं
त्वामेव याचे न हि कञ्चिदन्यम् ॥९७॥

स्तुतः सर्वैर्देवैर्विविधवचसाभीष्टनिरतै-
स्तथा लोकैर्भ्रान्तैः सुखमभिलषद्भिश्च बहुधा ।
स्तुतिव्याजैः शम्भुर्वत ! निजकृतौ तैस्तुनिहित-
स्त्वहं सेवे देवं वरद ! वरवाञ्छाविरहितः ॥९८॥

त्वमेवैकः शम्भो ! भवविभवरूपोऽसि भगवन्-
त्वमात्मा त्वं देवः सुहृदसुहृदौ मोक्षनिरयौ ।
क्रिया ज्ञानं ध्यानं त्वमसि सकलं तत्फलमहो
स्वयं स्तोता स्तुत्यो भवसि परमानन्दवलितः ॥९९॥

देहप्रमातृतां त्यक्त्वा हित्वा बुद्धिप्रमातृताम्
प्राणप्रमातृता हेया हेया शून्य-प्रमातृता ।
एवं मितात्मतां त्यक्त्वा दुःखाभास-विधायिननीम्
अनिर्वाच्ये पदे स्वच्छे स्थेयं स्वस्मिंश्चिदात्मनि ॥१००॥

लेभे जन्म सुदुर्लभं द्विजकुलेऽधीता च विद्याऽखिला
ज्ञातं ज्ञेयमशेषतः समभवच्छान्तिर्भवे दुर्लभा ।
दत्तं ज्ञानमुपार्जितं च सकलं शिष्येभ्य एतन्मया
पृथ्वि ! त्वं भव सुस्थिरा तव तमोदुष्टान्निहन्म्यासुरान् ॥१०१॥

सर्वं यत्रास्ति सर्वत्र सर्वं सच्चैकमेव यत् ।
तस्मिन्नस्मिन्ननेकस्मिन्नेकस्मिन् वा क्रमः कुतः ॥

